भारत में शिक्षा के नवाचार की आर्थिक स्थिति का विश्लेषणात्मक अध्ययन

Rinky Bharti, Research Scholar
Shri JJT University, Jhunjhunu (Rajasthan)

प्रस्तावना :–शिक्षा में नवाचार है क्या ये जानना हमारे लिये बहुत जरूरी ही नही बल्कि हमें एवं हमारे समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता भी है। जिस प्रकार कहा गया है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहता है। समाज के प्रति एवं समाज की किया प्रतिकिया द्वारा कार्य करता है। ठीक उसी प्रकार मानव अपने विकास के लिये अग्रसर है। प्रत्येक वस्तु या किया में परिर्वतन लाना प्रकृति का नियम का नियम है। परिवर्तन से ही मनुष्य का विकास हुआ है। जो समाज की वर्तमान व्यवस्था को अनुकूल बनाती है। व्यक्ति एवं समाज में हो रहे परिवर्तनों का प्रभाव शिक्षा पर भी पड़ा है। शिक्षा को समयानुकूल बनाने के लिये भौक्षिक कियाकलापों से नयी–नयी प्रवृतियों ने अपनी उपयोगिता को स्वयं सिद्ध कर दिखाया है। यदि हम शिक्षा को मूल अधिकार के रूप में स्वीकार करने के बाद राज्य सरकार शिक्षा के क्षेत्र में क्या नवाचार कर रही है, जैसे–पदोन्नति, विद्यालयों का एकीकरण, शिक्षक भर्ती, प्रारम्भिक शिक्षा, समानीकरण, मृतकों के आश्रितों को अनुकम्पा नियुक्तियाँ, शिक्षा का अधिकार विधेयक 2016 में बच्चों की पहचान, शिक्षा के नवाचार, लहर कार्यक्रम आदि। सभी शिक्षको में नवाचार की संभावानाये मौजूद होती है लेकिन औसत शिक्षक यह मानकर चलता है कि उसका काम पाठ्यक्रम पढ़ा देना और बच्चो को परीक्षा के लिये तैयार करना है बच्चे की उत्सुकता का विकास शिक्षक न अपनी जिम्मेदारी समझता है न स्कूल में ऐसी परिस्थितियॉ है जिनसे वह इस जिम्मेदारी को निभा सके। वर्तमन में शिक्षा का लक्ष्य केवल स्कूलों में भर्ती होना कार्यक्रम मे भाग लेना और प्रमाण पत्र प्राप्त हो गया है। जिनसे केवल स्कूल संस्थाओं के रूप में फैल रहे है। और वहॉ भी जानकारी देने पर आवश्यक जोर दिया जाता है। शिक्षक बच्चे के प्रति सरस और प्रयोग शील होता है। फिर भी कुछ शिक्षक ऐसे भी है। जिन्होने प्रयोग शोध और कियात्मक अनुसन्धान पर आधारित नवाचारो से शैक्षिक स्तर को रूपान्तरित नही किया बल्कि शैक्षिक चिन्तन से कर्म का चरित्र बदलने की कोशिश की है। एक समय ऐसा भी था जब स्कूल में घोषणा कर दी थी। यही नही मोन्टेशरी स्कूलों में खेल की शैली और गीजू भाई की कहानी एंव कियात्मक शैली नें स्कूलों के पाठयक्रमों व पुस्तिकाओं की जठिलता से मुक्त कर उसे बालकेन्द्रित रूप दिया है। शिक्षा में नवाचार के कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओ पर चर्चा करना है शिक्षा में नवाचार की अहम भूमिका है कि नवाचार बच्चों के सहजविकास की प्रकिया के साथ ताल मेल बिठाने में महत्वपूर्ण है। सभी शिक्षकों में नवाचार की संभावनाये मौजूद होती है। लेकिन औसत शिक्षक यह मानते है कि बच्चे की उत्सुकता का विकास शिक्षक न अपनी जिम्मेदारी समझता है न स्कूल मे ऐसी परिस्थितियॉ जिनमें वह अपनी जिम्मेदारी को बखूबी से निभा सकें। हम आम तौर से बच्चो की स्वभाविक कियायें देखकर उन्हे समझाने की कोशिश करते है कि बच्चे अपनी गतिविधियो को कैसे सीख रहे है। यदि हम यह देखें तो ढेरों नवाचार और शिक्षण विधियां अपने आप जन्म लेती है। जिनसे हम बच्चों में बोझिन ऊबाऊ और अरूचि कर शिक्षण से हटाकर आनन्दमयी और अरूचिकर शिक्षा दे सकते है। नवाचार अपने काम के प्रति संरचनात्मक जिम्मेदार ठोस व व्यवहारिक दृष्टिकोण अपनाने का एक तरीका होता है। प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री जोन होट ने कहा है कि उनके छात्रों से भिन्नता के बारे में जो सवाल उठाये है। उनका सही उत्तर देने के लिए 13 वर्ष लग गये। अधिकांश शिक्षकों द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली शिक्षण पद्धतियों में विद्यार्थियो के लिये कोई चुनौती नही होती है बल्कि कक्षाओं में पठन–पाठन की प्रकिया की विशेषता की जानकारी का हस्तान्तरण न कि प्रयोग अनुसन्धान या अवलोकन जबकि शिक्षकों के पास उनका जीवन्त अनुभव होता है। जिन्हें वे शैक्षिक चिन्तन में उतारकर नवाचार के रूप में वास्तविक रूप प्रदान करें। तो अपने बच्चो अपनी निरजता और उदासी को हटाकर उल्लास और जिज्ञासा की धारा में बहया जा सकता है।

अनुदानित विद्यालयों के स्तर पर शिक्षकों में नवाचार :– द्वितीय एवं तृतीय श्रेणी के शिक्षकों की अभिवृत्ति का स्तर उच्च पाया गया है। पर जहां नवाचार में द्वितीय एवं तृतीय श्रेणी के शिक्षकों की अभिवृत्ति में कोई अन्तर नही पाया गया है। शिक्षकों में पाठ्यविषय को प्रस्तुत करने के दो ढ़ंग हो सकते है। एक में छात्रों को कोई सामान्य सिद्धान्त बताकर उसकी जांच या पुष्टि करने के लिये अनेक उदाहरण दिये जाते है। दूसरे में पहले अनेक उदाहरण देकर छात्रों से कोई सामान्य नियम निकलवाया जाता है। शिक्षण विधि के दो अन्य प्रकार हो सकते है। पाठयपुस्तक को

6. Political Science-Fundamental Rights and Directive Principles of State Policy

Dr. Rinky Bharti
Shri JJT University-Rajasthan.

Abstract

The first major distinction between fundamental Rights and Directive Principle is that whereas the previous area unit justiciable, the latter area unit non-justiciable. Article thirty two offers to the folks the correct to constitutional remedies that guarantees the legal protection of those rights. Public will move to the Supreme Court and high courts for the implementation of the elemental rights. On the opposite hand directive principles don't seem to be enforceable. Article thirty seven specifically mentions that provisions contained during this half (Part IV Directive Principles) shall not be enforceable by any court. Directive principles neither contain neither legal nor constitutional sanction nor give for any methodology by that their non-implementation or violation will be got redressed by the people.

Keywords: Article, Fundamental Rights and Directive Principle, Enforce.

Introduction

Nature of Instructions: a significant distinction between elementary Rights and Directive Principles of State Policy is that whereas the previous area unit of negative and therefore the latter area unit of positive nature. Fundamental rights impose variety of limitations either on the voters or on the state. They command the state from doing one thing e.g. Article fifteen states, "The State shall not discriminate against any subject on grounds solely of faith, caste, sex, place of birth or any of them," Article twenty one lays down that "No person shall be bereft of his life or personal liberty." On the opposite hand Directive Principles area unit positive directions to the state to realize or to try and do sure things e.g. to organize village panchayats, to visualize the concentration of wealth and resources, to introduce prohibition, to shield historical monuments to market international peace etc. The objective of the elemental rights is to supply congenial setting for the fullest development of the temperament of the Indian voters. For the fulfillment of this objective the individual has been given a decent variety of freedoms. The target of Directive Principles of State Policy is to supply the individual with socio-economic and political

भारत में न्यायपालिका की स्वतंत्रता

Rinky Bharti, Research Scholar
J.J.T. University, Jhunjhunu (Rajasthan)

स्वतंत्र न्यायपालिका की स्थापना भारतीय संविधान की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। संघात्मक संविधानों में प्रायः दोहरी न्याय पद्धति होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में संघात्मक संविधान के सिद्धान्तों को कठोरता से लागू किया जाता है। फलतः वहां दोहरी न्याय व्यवस्था की स्थापना की गई है। (1) संघ की (राज्यों की। इसके विपरित भारतीय संविधान संघात्मक होते हुए भी सारे देश के लिए न्याय प्रशासन की एक व्यवस्था करता है जिसके शिखर पर अच्चतम न्यायालय वर्तमान में है। सर्वोच्च न्यायालय के सभी निर्णय देश के समस्त न्यायालयों के ऊपर आध्यकारी होते हैं। देश की विधियों में एकरूपता, स्पष्टता तथा स्थिरता की दृष्टि से इकहरी न्याय व्यवस्था के लाभों से मना नहीं किया जा सकता है। संघात्मक संविधान में स्वतंत्र न्यायपालिका का प्रमुख कार्य केन्द्र तथा राज्यों के बीच विवादों को निपटाना होता है। इसलिए सर्वोच्च न्यायालय को संविधान का संरक्षक कहा गया है। देश के विधान मण्डलों द्वारा बनाई गई विधियों को उच्चतम न्यायालय असंवैधानिक घोषित कर सकता है, यदि यह विधियां संविधान के किसी उपबन्ध के असंगति में है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा किया गया उपबन्धों का निर्वचन अन्तिम होता है।

स्वतन्त्र न्यायपालिका का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य नागरिकों के मूल अधिकारों को सुरक्षा प्रदान करना होता है। भारतीय संविधान में नागरिकों के अनेक मूल अधिकारों का उल्लेख महत्त्वहीन होगा यदि इनकी सुरक्षा के लिए समुचित व्यवस्था न की गई है। भारतीय संविधान में इस कार्य को सम्पादित करने का कार्य सर्वोच्च न्यायालय में को सौंपा गया है। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय न केवल संविधान का वरन् नागरिकों के मूल अधिकारों का संरक्षक तथा जागरुक प्रहरी है। जनता को समान न्याय देने के लिए न्यायपालिका का कार्यकारिणी के दबाव और नियंत्रण से स्वतंत्र होना अत्यधीक आवश्यक है।

स्वतंत्र न्यायपालिका प्रजातंत्र की आधारशीला है अतएव संविधान में न्यायपालिका को बिलकुल स्वतंत्र रखा गया है, जिससे वह निष्पक्ष एवं निर्भयतापूर्ण न्याय प्रदान कर सके। इसलिए न्यायपालिका को केन्द्र तथा राज्यों दोनों में किसी एक के भी अधीन नहीं रखा गया है। इस नजर से देखा जाए तो भारत की न्यायपालिका जिसके शिखर पर सर्वोच्च न्यायालय अधिष्ठित है विश्व की सभी न्यायपालिकाओं की अपेक्षा सुदृढ़ एवं शक्तिशाली है और वह प्रजातांत्रिक व्यवस्था के सर्वथा अनुकूल है।

"जी आस्तिन" के शब्दों में उच्चतम न्यायालयों को नागरिकों और अल्पसंख्यकों के अधिकारों के संरक्षक का कार्य सौंप कर वस्तुतः सामाजिक क्रान्ति के संरक्षक का भार सौंपा गया है। यह सामाजिक हित तथा व्यक्तिगत हित के बीच सामंजस्य स्थापित करने का कार्य करता है। यह देश का सर्वोच्च न्यायालय है जिसे देश की साधारण विधियों की व्यवस्था के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय देने का अधिकार प्राप्त है। यह सिविल तथा फौजदारी मामलों का सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय है।

एक स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायपालिका ही नागरिकों के अधिकारों की संरक्षिका हो सकती है तथा बिना डर व पक्षपात के सभी नागरिकों को समान न्याय प्रदान कर सकती है। इसके लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि सर्वोच्च न्यायालय अपने कर्तव्यों के पालन में पूर्णरूप से स्वतंत्र और सभी प्रकार के राजनैतिक दबाव से मुक्त है। लोकनाथ तोलराम बनाम बी. एन. रंगमानी ए.आई.आर. 1975 एस.सी. 279 के वाद में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता संविधान का आधारभूत ढांचा है। ऐसी बात एस. पी. गुप्ता बनाम भारत संघ और अन्य ए.आई.आर. 1982 एस.सी. 149 में कही गई थी।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता का अर्थ :- न्यायपालिका की स्वतंत्रता का अर्थ अपने अस्तित्व के कई वर्षों के पश्चात् अभी भी स्पष्ट दिखाई नहीं देता है। हमारे संविधान के प्रावधानों का सिर्फ न्यायपालिका की स्वतंत्रता के वार्ता के रास्ते में क्या वास्तव में न्यायपालिका की स्वतंत्रता है या नहीं, यह एक जटिल प्रश्न बन गया है लेकिन ऐसा नहीं है।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर प्राथमिक बात शक्तियों का विच्छेद है जो कि कई वर्षों से अपने अस्तित्व को रखती है के सिद्धान्तों पर आधारित है। "विच्छेद का सिद्धान्त कार्यपालिका और विधायिका से एक संस्था के रूप में न्यायपालिका की स्वतंत्रता के अधिकार की वार्ता है।"

The Road to Sustainability : How Environmental Law Can Deal with Complexity and Flexibility

Dr. Rinky Bharti (Assistant Professor)
Shri JJT University Jhunjhunu (Raj.)

ABSTRACT : This special issue of the Utrecht Law Review focuses on the transition towards a sustainable society and offers six articles that deal with specific legal aspects of the necessary governance towards sustainability. The articles have been written by researchers who participate in the Commune Research School and, more precisely, the Environmental Law Programme and University Research Programme entitled 'The Road to Sustainability', which takes Resilience, Complexity and Conflict Management as the main focus of its research. In this issue the scope is widened with papers on Corporate Social Responsibility and the payment for water-related ecosystem services, thereby providing aoverview of the role of the relevant actors, normative principles and instruments that are necessary to deal with complexity, to improve flexibility and resilience and to – in the end – increase sustainability.

INTRODUCTION : Societal transitions towards sustainability can only be achieved by combining socio-economic and technological innovations with legitimate, effective and efficient governance arrangements. The road towards sustainability is a matter of collective action by both governments and private actors. Governance is a crucial factor to facilitate and stimulate sustainable development and can be described as a process of interaction between public and private actors ultimately aiming at the realization of a sustainable society as a collective goal. The transformation towards a sustainable society must recognize conflicting values with regard to access to natural resources, the use of new technologies, and the way social and economic development is fostered. The recognition and understanding of the normative aspects of governance arrangements is crucial in making the transition to a sustainable society actually work. Sustainable development contains major societal challenges, like ensuring human dignity, equality, and welfare; protecting vulnerable ecosystems and cultural heritage; dealing with climate change; stimulating environmentally sound economic developments; realizing the efficient use of energy, water and other resources; and stimulating the use of renewable energy sources and dealing with distributional effects. Governing sustainability is all about finding solutions to achieve these goals and enhancing the resilience of society in coping with environmental and socio-economic disturbances and associated risks. Moreover, governing sustainability is aimed at influencing the main driving forces of sustainability problems, such as technological developments, production and consumption patterns, the misuse of ecosystems and urban, rural and infrastructural land use, taking into account the fact that the intensity of the transitions that are needed can be both fundamental as well as incremental.

REVIEW OF LITERATURES : Governing sustainability encompasses the complex pursuit among governments, market actors, civil society, NGOs and international organizations of promoting sustainable transition processes taking place at various levels (local, regional, national and international) and affecting different policy sectors (i.e. energy, water, housing, infrastructure, industry and agriculture). These processes are situated within and among multilevel socio-economic and ecological spheres and their future orientation crosses temporal scales. The need to cope with uncertainties in, for example, climate and technological issues is already being debated, but an extended discussion is needed with a focus on the need for shared values and looking for ways to deal with conflicting issues and distributional effects. Uncertainties about complex causal relations, future predictions of global and regional environmental change and society's resilience to adapt are an important stimulus for indecisiveness and hesitation by governing actors. But even complete certainty – if this is at all possible – cannot remove the inherent value conflicts that go hand in hand with the transition to sustainable development.

VOLUME - VIII, ISSUE - I - JANUARY - MARCH - 2019
AJANTA - ISSN 2277 - 5730 - IMPACT FACTOR - 5.5 (www.sjifactor.com)

8. Alternative Dispute Resolution Technique: Incident of Labour Relations in Sugar Mills of Bijnor U.P

Dr. Rinky Bharti
Assistant Professor, Shri J.J.T. University.

Abstract

Uttar Pradesh state sugar corporation Limited was incorporated on 26 March 1971 under the Indian Companies act 1956 as a wholly owned Government company to run the sick sugar mills acquired by the state Government under the U.P. Sugar undertaking (Acquisition) act 1971. The Board for industrial and financial reconstruction (BIFR) declared it as a sick industrial company on 21 August 1995.The Company has been controlling 30 sugar mills acquired during 1971 to 1989. Out of these 10 mills were closed (four mills from crushing seasons 1998-99 and six mills from cursing seasons 1999-2000) as these mills had become unviable due to continued losses and one mills was transferred to the state of Uttrakhand state in January 2002. The state of government transferred 18 sugar mills (10 closed mills and 8 working mills) to the new subsidiary company viz. U.P.state sugar and cane Development Corporation limited in September 2002. Thus, the company is left with only 11 working sugar mills with installed cursing capacity of 25,200 tons per day (TCD) in crushing seasons 2003-04 onwards. In July 2003, the company decided to lease out these 11 sugar mills but could not transfer these mills on lease become the approval of BIFR was awaited up to August 2004.

Keywords: Government, sugar mills, BIFR, corporation Limited, Development.

Introduction

The Sugar production in the state during 2003-04 was 45.51 lakh tons in which the share of the company was 2.98 lakh tones i.e. 6.55 percent of the total production of the state. The although the total sugar production in the state varied from 45.56 lakh tons in 1999-2000 to 45.51 lakh tons in 2003-04 the share of the company varied during the period from 3.64 lakh tons (7.99 percent) to 2.98 lakh tons (6.55 percent). The company could not grow because the sugar mills acquired by the company were sick at the time of their acquisition itself, having old/ obsolete plant and machinery and very low crushing capacity. Consequently, the cost of production of sugar in most of the mills of the company was higher than its sales realization.

A Critical Study- The Ramsar Convention and National Laws and Policies for Wetlands in India

Dr. Rinky Bharti (Assistant Professor)
Dr. Anil Kumar (Associate Professor)
Shri JJT University Jhunjhunu

ABSTRACT : The Ramsar Convention is a historical Convention in many respects particularly as it is one of the oldest ecosystems specific Conventions that speaks of wise use of wetlands and not conservation alone. It also enjoins the Parties to the Convention to formulate and implement their planning so as to promote the conservation of listed wetlands and as far as possible, the wise use of wetlands in their territory (Art 3.1). The review of legal and institutional issues related to wise use of wetlands is mandated further by the Additional Guidance for the implementation of the wise use concept (I-2 of the Additional Guidance). However, at least in the case of India, it would be accurate to say that the review of legal and institutional issues has received little attention by the decision makers in the country. On the other hand, India joined the Convention in 1981 and has six listed sites (Keoladeo National Park, Chilika Lake, Loktak Lake, Wular Lake, Harike Lake and Sambhar Lake). Three sites are already on the Montreux record (Keoladeo National Park. Chilika Lake and Loktak Lake) thus making it imperative to examine the legal and institutional aspects of wetlands management in the country.

Keywords : Convention, ecosystem, legal systems, Government agency.

INTRODUCTION : There are several underlying reasons for this lack of effort by the concerned Government agency to review the legal systems concerning wise use of wetlands. The factors for this oversight range from the lack of resources and ambivalent political interest amongst the concerned agencies (the Ministry of Environment and Forests) to the vast number of multiple users and economic interests attached to these wetland ecosystems as well as the varying geographical characteristics of wetlands and diverse range of wetlands in the country. The difficulty to distinguish terrestrial and aquatic ecosystems (since the latter are periodically waterlogged or submerged for varying periods, thus being a source of confusion amongst scientists) is another possible reason for the Government's inability to address the legal and institutional aspects of wetland management. The lack of accurate scientific information on wetlands particularly with the vast body of decision makers is another key factor responsible for the neglect of the review of laws and institutions governing wetlands. This is further aggravated by the plethora of laws and institutions applicable to wetlands (Government agencies often enjoy overlapping jurisdiction in matters connected with wetlands). Since there are so many laws that indirectly have a bearing on wetlands, it would be a Herculean task to amend these laws to attain the objective of wise use or set in place a comprehensive national wetland law. Indeed this may not even be desirable for accomplishing wise use of wetlands in India.

Under the Wildlife Protection Act (WPA) and other central laws like the Indian Forest Act, wetlands are not even defined as a separate category of ecologically important areas but generally form part of protected areas. Of course they are included in protected areas only when wetlands are the habitat of endangered wildlife (and exist within sanctuaries or national parks). The existing laws would be amended to incorporate a broad inclusive definition of wetlands (specifically in the WPA). This would facilitate and make it legally binding for wetland managers to draw up wetland conservation plans. Equally, it would make it mandatory for the Government agencies (central and state) to offer institutional and financial support for local wetland management and wise use practices.

The Environment (Protection) Act, 1986 is an umbrella Act which was enacted with the objective of protecting and improving the environment and for matters connected therewith. 'Environment'